हमारा योग और उसके उद्देश्य

(THE YOGA AND ITS OBJECTS)

श्रीअरविंद

श्रीअरविंद-ग्रन्थमाला
१६, रयू देबासैं द रिशमों
16 Rue Desbassin de Richemont
पांडीचेरी (Pondicherry) ...

अनुवादक
मदनगोपाल गाडोदिया

संपादक
आचार्य श्रीअभयदेव विद्यालंकार

प्रकाशक
श्रीअरविन्द-ग्रन्थमाला
पांडीचेरी

१५ अगस्त १९४०

सोल एजेन्ट्स
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा,
त्यागरायनगर, मद्रास

मुद्रक
हिन्दी प्रचार प्रेस,
त्यागरायनगर, मद्रास

प्रथम संस्करण
१०५०

मूल्य
॥) आठ आना

प्रकाशकका वक्तव्य

यह पुस्तक श्रीअरविंदकी "योग एण्ड इट्स आबजेक्ट्स" (The Yoga And Its Objects) नामक अंग्रेजी पुस्तकका हिन्दी अनुवाद है। इसमें श्रीअरविंदने अपने दृष्टिकोणसे योगके तात्पर्यको सरल स्पष्ट और संक्षिप्त रूपमें समझाया है। इसमें साधनाकी भी कुछ सार बातें हैं। यह पहली पुस्तक है जिसे श्रीअरविंदयोगके जिज्ञासुओंको इस योगका प्राथमिक ज्ञान लाभ करनेके लिये पढ़ना चाहिये।

हमारा योग और उसके उद्देश्य

जिस योगकी साधना हम करते हैं वह केवल हमारे लिये ही नहीं है, बल्कि वह मानवजातिके लिये है। इसका उद्देश्य व्यक्तिगत मुक्ति नहीं है, यद्यपि मुक्ति योगकी एक आवश्यक अवस्था है, बल्कि इसका उद्देश्य है मनुष्यजातिकी मुक्ति। हमारा उद्देश्य व्यक्तिगत रूपसे आनन्दको प्राप्त करना नहीं है, बल्कि यह है कि भागवत आनंद—ईसाका स्वर्गीय साम्राज्य या हमारा सत्ययुग—को पृथ्वीपर उतार लाया जाय। (मोक्षकी हमें व्यक्तिगत रूपसे कोई आवश्यकता नहीं है, कारण आत्मा नित्यमुक्त है और बंधन तो केवल भ्रम ही है। वास्तवमें हम किसी बंधनमें नहीं हैं, बल्कि हम बद्ध होनेका अभिनय करते हैं। ईश्वर जब संकल्प करें तभी हम मुक्त हो सकते हैं, कारण वह हमारा परम आत्मा, इस नाटकका सूत्रधार है, और उसके प्रसाद और आज्ञाके बिना कोई भी आत्मा इस रंगभूमिको नहीं छोड़ सकता। बहुधा हममें यह ईश्वरका संकल्प ही होता है जिससे प्रेरित होकर हम मनके द्वारा अज्ञानका तथा हर्ष और शोक, सुख और दुःख, पाप और पुण्य, भोग और त्यागके द्वंद्वों-

का भोग करते हैं। बहुतसे देशोंमें तो वह इस लीलाको एक बहुत दीर्घ कालतक अथक रूपसे चलाये चलता है, शताब्दियोंपर शताब्दियाँ बीत जाती हैं और योगके संबंधमें वह कोई विचारतक नहीं करता। इसमें कोई बुराई नहीं है, ऐसी कोई बात नहीं है जिसको हम दोष दें या जिससे हम मुंह मोड़ें,—यह भगवान्‌की लीला है। बुद्धिमान मनुष्य वही है जो इस सत्य को स्वीकार करता है और अपनी स्वतंत्रताका ज्ञान रखते हुए भगवान्‌की इस लीलामें अपना अभिनय करता रहता है और इस लीलाकी पद्धतिमें फेर-फार करनेके लिये उसके आदेशकी प्रतीक्षा करता है।

यह आदेश अब हो चुका है। ईश्वर सदा अपने लिये एक ऐसे देशको चुनकर रखता है जहाँ, समस्त संभावनाओं और खतरोंका अतिक्रमण कर, चाहे थोड़े-से लोगों में हो या बहुतोंमें, उच्चतर ज्ञानकी निरंतर रक्षा की जाती है। और वर्त्तमान कालमें, कम-से-कम इस चतुर्युगीके लिये, वह देश भारतवर्ष है। जब कभी वह अज्ञानका, द्वंद्वोंका, आपसी झगड़ों और क्रोध और विलाप और दुर्बलता और स्वार्थका, तामसिक और राजसिक सुखोंका, संक्षेपमें कलिकी

लीलाका पूर्ण सुख लेना चाहता है, तब वह भारतके ज्ञानको धुंधला कर देता है और भारतको दुर्बलता और अवनतिके गढ़ेमें डाल देता है जिससे कि वह अपने ही झमेलोंमें फँसा रहे और उसकी लीलाकी इस गतिमें किसी तरहका हस्तक्षेप न कर सके। जब वह इस कीचड़से बाहर निकलना चाहता है और यह चाहता है कि नरमें जो नारायण है वह एक बार फिर शक्तिशाली, ज्ञानवान और आनंदमय हो तब वह पुनः भारतवर्षपर ज्ञानकी वर्षा करता है और उसे ऊपर उठाता है जिससे कि वह समस्त संसारको ज्ञान दे सके और इस ज्ञानके फलस्वरूप अवश्यंभावी रूपसे आनेवाली शक्ति, प्रज्ञा और आनंदको प्राप्त करा सके। जब ज्ञानकी गति संकुचित हो जाती है, तब इस देशके योगी संसारसे उदासीन हो जाते हैं और स्वयं अपनी ही मुक्ति या आनंदके लिये अथवा अपने कुछ शिष्यों-की मुक्तिके लिये योगाभ्यास करते हैं, किन्तु ज्ञानकी गति जब पुनः विस्तृत होती है और उसके साथ-ही-साथ भारतका अंतरात्मा विस्तारको प्राप्त होता है, तब वे एक बार फिर प्रकाशमें आते हैं और जगत्में और जगत्के हितके लिये कर्म करते हैं। तब जनक, अजातशत्रु और कार्त्तवीर्य जैसे योगी एक बार

फिर संसारके सिंहासनोंपर आरूढ़ होते हैं और विभिन्न राष्ट्रोंका शासन करते हैं।

मनुष्यमें जो भगवान्‌की लीला होती है वह सदा चक्राकार घूमती रहती है, सत्ययुगसे कलियुगकी ओर और कलियुगमेंसे फिर सत्ययुगकी ओर। आधुनिक भाषामें सत्ययुग जगत्‌का वह काल है जिसमें सामंजस्यकी, स्थिर और पर्याप्त सामंजस्यकी, सृष्टि रहती है और मनुष्य कुछ कालके लिये, कतिपय अवस्थाओं और सीमाओंके अंतर्गत, अपनी सत्ताकी पूर्णताको अनुभव करता रहता है। यह सामंजस्य इस युगकी प्रकृतिमें ही, एक सुप्रतिष्ठित पवित्रताकी शक्तिद्वारा निहित रहता है, परंतु बादमें यह मेल टूटने लगता है और त्रेतामें मनुष्य इसको व्यष्टिगत और सामूहिक इच्छा-शक्तिसे संभाले रहता है, आगे चलकर यह और भी भग्नावस्थाको प्राप्त होता है और द्वापरमें मनुष्य इसको बौद्धिक विधान और सार्वजनिक सहमति तथा शासनद्वारा संभालनेकी चेष्टा करता है, और भी आगे चलकर अर्थात् कलियुगमें यह पूर्ण रूपसे ध्वंस होकर नष्ट हो जाता है। परंतु कलियुग केवल अशुभ ही नहीं है, इसमें एक नवीन सत्ययुग, एक नवीन सामंजस्य, एक

अधिक उन्नत सिद्धिके लिये आवश्यक अवस्थाओंका उत्तरोत्तर निर्माण होता रहता है। इस कलिकालमें जो बीत चुका है, पर जिसका असर अभीतक चल रहा है—किन्तु वह भी अब समाप्तिपर है—प्राचीन ज्ञान और संस्कृतिकी सार्वत्रिक हानि हुई है। उस ज्ञान और संस्कृतिके कुछ टूटे-फूटे अंश ही वेदोंमें, उपनिषदों और अन्यान्य धर्मग्रन्थोंमें तथा जगत्‌की उलझी हुई परंपराओंके रूपमें, हमारे पास शेष रह गये हैं। परंतु अब वह समय आ गया है जब कि ऊपरकी तरफ गति करनेके लिये पहला पग उठाया जाय, अर्थात् एक नवीन सामंजस्य और नवीन सिद्धिकी प्राप्तिके लिये प्रथम प्रयास किया जाय। यही कारण है कि मनुष्य-समाज, ज्ञान, धर्म और सदाचारकी पूर्णताके लिये आजकल इतने तरहके विचार फैल रहे हैं। परंतु सच्चे सामंजस्यका पता अभीतक अप्राप्त है।

केवल भारतवर्ष ही इस सामंजस्यका आविष्कार कर सकता है, कारण यह सामंजस्य मनुष्यकी वर्त्तमान प्रकृतिका रूपांतर करके ही—उसके पुनर्व्यवस्थापन-द्वारा नहीं—विकसित किया जा सकता है, और इस रूपांतरका होना योगके बिना संभव नहीं है। मनुष्य

और वस्तुओंकी प्रकृति इस समय बेमेल हो गयी है, इनका सामंजस्य बेसुरा हो गया है। इसको पुनः सामंजस्यपूर्ण, सुरीली बनानेके लिये मनुष्यके हृदय, कर्म और मनके समग्र रूपसे परिवर्तित होनेकी आवश्यकता है। यह परिवर्तन आंतरिक होगा, बाह्य नहीं, न तो यह राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओंद्वारा होगा न धर्मसंप्रदायों और दर्शन-शास्त्रोंद्वारा ही, बल्कि यह होगा हममें और इस जगत्‌में भगवान्‌की उपलब्धि करके और उस उपलब्धि-द्वारा जीवनको एक नये ही साँचेमें ढाल करके। यह बात केवल पूर्णयोगद्वारा ही हो सकती है, जो एक ऐसा योग है जिसकी साधना किसी विशेष प्रयोजनको लक्ष्य कर नहीं की जाती, चाहे वह प्रयोजन मुक्ति या आनंद ही क्यों न हो, बल्कि जिसका ध्येय है दिव्य मानवताको अपनेमें और दूसरोंमें सिद्ध करना। हठयोग और राजयोगकी साधनाएं भी इस कामके लिए पर्याप्त न होंगी और त्रिमार्ग (ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग) से भी काम न चलेगा, इसके लिये हमें और भी ऊपर उठना होगा और अध्यात्मयोगका आश्रय लेना पड़ेगा। अध्यात्मयोगका सिद्धांत है, ज्ञानरूपसे तो उन समस्त वस्तुओंको, जिन्हें हम देखते

है या जिन्हें देखते तो नहीं पर जिनसे परिचित हैं—मनुष्य, वस्तुएँ, हम स्वयं, घटनाएं, देवता, असुर और देव—सभीको एक परब्रह्मके रूपमें अनुभव करना, और कर्म तथा भावरूपसे उस परात्पर पुरुषको, जो एक ही संग वैयक्तिक और नैर्व्यक्तिक है, सांत और अनन्त है, स्वात्मसीमित और असीम है, एक और बहु है और जो ऊपरमें रहनेवाले देवताओंको ही नहीं, बल्कि नीचेके लोकके मनुष्य और कीट और मिट्टी-के ढेलेतकको अपनी सत्तासे अनुप्राणित करता है, पूर्ण आत्मसमर्पण करना। समर्पण पूरा होना चाहिये। अपने लिये कुछ भी बचाकर नहीं रखना चाहिये, कोई इच्छा नहीं, कोई मांग नहीं, कोई राय नहीं, ऐसी कोई भावना नहीं कि यह होना ही चाहिये, यह हो ही नहीं सकता, यह होना चाहिये और यह नहीं होना चाहिये—सब कुछ अर्पण कर देना होगा। हृदयको समस्त इच्छाओंसे और बुद्धिको समस्त निज-संकल्पोंसे मुक्त कर लेना होगा, प्रत्येक द्वंद्वका त्याग करना होगा, अखिल दृश्य और अदृश्य जगत्को इस तरह अनुभव करना होगा कि यह एक छिपे हुए दिव्य ज्ञान, शक्ति और आनंदकी ही अभिन्न परम अभिव्यक्ति है, और अपनी समस्त सत्ताको इस

तरहसे सौंप देना होगा जैसे कि एक इंजन ड्राइवरके हाथोंमें स्वयं निष्क्रिय रहता है, जिससे कि भागवत प्रेम, सामर्थ्य और निर्विकार बुद्धि अपना कार्य कर सकें और अपनी भागवत लीलाको चरितार्थ कर सकें। अहंकारको जड़से उखाड़ फेंकना होगा जिससे कि हम—जैसी कि अनंत ईश्वरकी हमारे लिये इच्छा है—पूर्ण आनंद, पूर्ण शान्ति और ज्ञान तथा भागवत सत्ताकी पूर्ण कर्मण्यताको प्राप्त कर सकें। पूर्ण आत्म-समर्पणका यह भाव यदि अपूर्ण रूपसे भी स्थापित हो जाय तो यौगिक क्रियाकी फिर कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। कारण तब स्वयं ईश्वर ही हममें साधक हो जाता है और वही सिद्ध, और उसकी भागवत शक्ति हममें कार्य करने लगती है—हमारी कृत्रिम प्रक्रियाओंके द्वारा नहीं, किन्तु उस प्रकृतिकी क्रियाओंद्वारा जो पूर्ण रूपसे विज्ञ है, समस्त विषयोंका अनुसंधान रखती है और अमोघ रूपसे कार्यक्षम है। अत्यंत शक्तिशाली राजयौगिक संयम, अत्यंत उन्नत प्राणायाम, अत्यंत अविरत ध्यान, अत्यंत आनंदपूर्ण भक्ति, अत्यंत निष्काम कर्म भी, यद्यपि ये बड़ी भारी शक्ति रखते और लाभदायक हैं तथापि भागवत शक्ति-की परम क्रियाद्वारा जो लाभ होता है उससे यदि

इनके परिणामकी तुलना की जाय तो ये उसके सामने कमजोर ही सिद्ध होते हैं। कारण ये सब-के-सब कुछ हदतक हमारी अपनी योग्यतापर निर्भर करते हैं, किन्तु भागवत शक्तिकी क्रियाका बल अपार है क्योंकि यह ईश्वरकी योग्यता है। यह केवल उसके संकल्प-से ही सीमित है जो यह जानता है कि इस जगत्के लिये और, इस जगत् में तथा इसके बाहर, हममेंसे हरेकके लिये क्या करना सर्वोत्तम है।

इस योग-साधनकी सबसे पहली प्रक्रिया यह है कि तुम आत्मसमर्पणका संकल्प करो, तुम सर्वात्मना और संपूर्ण शक्तिके साथ अपने-आपको भगवान्के हाथोंमें सौंप दो। कोई शर्त न रखो, कुछ भी न मांगो, यहाँ-तक कि योगकी सिद्धि भी न मांगो, कुछ भी, किसी वस्तुको भी मत चाहो सिवाय इसके कि तुममें और तुम्हारेद्वारा भगवान्के संकल्पकी ही प्रत्यक्ष पूर्ति होती रहे। जो मनुष्य भगवान्से कुछ मांगते हैं उनको वे उस वस्तुको ही देते हैं जिसे वे माँगते हैं, किन्तु वे लोग जो अपने-आपको दे देते हैं और कुछ मांगते नहीं, उनको वे उन सभी चीजोंको तो देते ही हैं जिनको वे अन्यथा मांगते या जिनकी उन्हें आवश्यकता हुई होती, बल्कि इनके अतिरिक्त वे स्वयं

अपने-आपको और अपने प्रेमके स्वतःसिद्ध वरदानको भी उन्हें प्रदान करते हैं।

इस योग-साधनकी दूसरी प्रक्रिया यह है कि तुम कर्तृत्वाभिमानसे विलग हो जाओ और भागवत शक्तिकी तुममें जो क्रिया हो रही है उसको तुम साक्षीरूपसे देखते रहो। भागवत शक्तिकी यह क्रिया जब होती है तब, बहुधा देहादिमें क्षोभ और कष्ट होता है, अतः तुममें श्रद्धा होनी चाहिये, यद्यपि पूर्ण श्रद्धाका एकबारगी हो जाना सदा संभव नहीं होता, कारण तुममें जो कुछ भी मलिनता—चाहे वह दिखायी देती हो या भीतर छिपी पड़ी हो—घर किये होती है, वह ऊपर उभड़ आती है और जबतक उसको पूर्ण रूपसे निर्मूल नहीं कर दिया जाता तबतक बारबार आक्रमण करती रहती है, और इस कालमें संदेहका होना एक आम मलिनता है। परन्तु जब संदेहका आक्रमण हो तब भी उससे अलग हो जाओ और इस संदेहके चले जानेतक धैर्य रखो, और यदि संभव हो तो उन लोगोंके सत्संगका लाभ उठाओ जो इस मार्गमें कुछ आगे बढ़ चुके हैं, किन्तु जब इस सत्संगका अभाव हो तब भी, इस योगके मूल सिद्धांत आत्मसमर्पणको दृढ़तासे पकड़े रखो। जब अंदरमें व्याकुलता हो या

बाहरसे आक्रमण होता हो तब गीताके इन शब्दोंका स्मरण करो :—

मच्चित्तः सर्व्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।

"अपने-आपको सर्वात्मना (हृदय और मनसे) मुझे दे देनेसे तू समस्त कठिनाइयों और संकटोंको मेरे प्रसादसे पार कर जायगा ।" और फिर:—

सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्व्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

"समस्त धर्मोंका (समस्त सिद्धांत, नियम और हर तरहके साधन तथा धर्मविधान चाहे वे अपने पूर्वके अभ्यास और विश्वासद्वारा निर्मित हुए हों या बाहरसे लादे गये हों) परित्याग कर, और एकमात्र मेरी ही शरणमें आ, मैं तुझे समस्त पापों और दोषोंसे मुक्त कर दूँगा,—शोक मत कर ।" "मैं मुक्त कर दूँगा," —तुम्हें परेशान होने या संघर्ष में पड़नेकी आवश्यकता नहीं, मानो जिम्मेवारी तुम्हारे ही ऊपर हो या सफलता तुम्हारे ही प्रयत्नपर निर्भर करती हो, कारण तुमसे कोई अधिक शक्तिशाली सत्ता इस कामको अपने हाथमें लिये हुए है। रोग, संकट, अपने पापों और मलिनताओंका उभाड़, इनसे तुमको जरा भी घबराना नहीं

चाहिये। केवल भगवान्‌से चिपके रहो। उन्होंने तो कहा ही है कि "मैं तुझे समस्त पापों और दोषोंसे मुक्त कर दूँगा।" परन्तु यह मुक्ति किसी अचानक चमत्कारके रूपमें नहीं होती, यह पवित्रीकरणकी एक प्रक्रियाद्वारा होती है और ये चीजें (रोग, संकट, पाप, मलिनताका उभाड़) इस प्रक्रियाका एक अंग ही हैं। यह ऐसा है जैसे कोई कमरा बहुत दिनोंतक बिना झाड़े-बुहारे पड़ा हो और अन्तमें उसको साफ किया जाय तो उसकी धूल बुरी तरह ऊपर उठती है। यद्यपि यह धूल तुम्हारा गला घोंटतीसी दिखायी देती है, फिर भी अपना प्रयत्न बराबर जारी रखो "मा शुचः"।

अपने कर्तृत्वाभिमानसे विलग होनेके लिये यह आवश्यक है कि तुमको यह ज्ञान हो कि तुम तो पुरुष हो जो केवल साक्षी है, ईश्वरके कार्यको अनुमति देता है, आधारको धारण करता है और ईश्वरके दिये हुए फलोंका भोग करता है। यथार्थमें कर्मको तो शक्तिके रूपमें भगवान् अर्थात् भगवती शक्ति करती हैं, काली करती हैं और श्रीकृष्णको यज्ञरूपसे अर्पण करती हैं। तुम तो उस यजमानकी तरह हो जो यज्ञको

संपन्न होता हुआ देखता है, जिसकी उपस्थिति यज्ञकी प्रत्येक क्रियामें आवश्यक है और जो उसके फलोंका स्वाद लेता है। इस प्रकार अपने-आपको पृथक् कर लेना, इस तरह कर्तृत्वाभिमानका त्याग कर देना तुम्हारे लिये सहज हो जायगा यदि तुम्हें यह ज्ञान हो कि आधार क्या है। अंतःकरणका सर्वश्रेष्ठ व्यापार बुद्धि है, किन्तु बुद्धिसे भी ऊपर परावुद्धि या विज्ञान है, जो सत्य-धर्मका, ज्ञानके सत्य, भावके सत्य, कर्मके सत्यका धाम है और इस आदर्श तत्त्वसे भी ऊपर आनंद है जिसमें तुम्हारा भागवत अंश निवास करता है। ईसाने जब कहा था कि ईश्वरका साम्राज्य तुम्हारे अंदर ही है तब उनका अभिप्राय इसी विज्ञान और आनंदसे था। इस समय हमलोग निम्नतर प्रवृत्तियोंमें ही जाग्रत हैं और विज्ञान और आनंदमें सुषुप्त हैं, अतः हमें चेतनाके इन स्तरोंको अपने अंदर जाग्रत करना है, इनका जाग्रत हो जाना और इनकी विशुद्ध क्रियाका हममें होने लगना, इसीका नाम योग-सिद्धि है। कारण, जब यह हो जाता है तब हम उस स्थितिको प्राप्त हो जाते हैं जिसे गीतामें भगवान्-में वास करना कहा गया है। श्रीकृष्णके इस वाक्यका, मयि निवसिष्यस्येव, "निश्चयपूर्वक तू मुझमें

निवास करेगा," यही अर्थ है। एक बार जहाँ इस स्थितिको प्राप्त कर लिया कि हम मुक्त और धन्य हो गये और हमने उन सभी चीजोंको पा लिया जिसके लिये हम चेष्टा कर रहे हैं।

इस योग-साधनकी तीसरी प्रक्रिया यह है कि हम वस्तुमात्रको ईश्वररूपमें अनुभव करें। ज्ञानकी इस प्रक्रियामें पहले तो, साधारणतया, यह होता है कि साधक यह अनुभव करता है कि समस्त देश और कालको व्याप्त करती हुई एक दिव्य नैर्व्यक्तिक सत्ता है, सत् आत्मा है, जिसमें कोई गति नहीं, कोई भेद या आकृति नहीं, शांतम् अलक्षणम्, जिसमें समस्त नाम और रूप ऐसे जान पड़ते हैं कि उनमें सद्वस्तुका अस्तित्व या तो अत्यंत संदिग्ध है या नगण्य। इस अनुभूतिमें ऐसा हो सकता है कि यह बोध हो कि सद्वस्तु तो वह एक ही है और बाकी सभी कुछ माया है, निरर्थक और अनिर्वचनीय भ्रम है। परंतु उपर्युक्त अवस्थाके बाद यदि तुम यहीं नहीं रुक जाओ और अपने-आपको इस नैर्व्यक्तिक अनुभूतिद्वारा परिसीमित न कर लो तो तुम्हें यह दिखायी देगा कि वही आत्मा समस्त सृष्ट वस्तुओंको न केवल धारण

कर रहा और आश्रय प्रदान कर रहा है, बल्कि इनमें आविष्ट हो रहा है और इन्हें परिपूर्ण भी कर रहा है, और अंतमें तुम इस बातको समझनेके योग्य हो जाओगे कि नाम और रूप भी ब्रह्म ही हैं। तब तुम उस ज्ञानमें अधिकाधिक निवास कर सकोगे जिसे उपनिषद् और गीताने जीवनका सिद्धांत माना है। तब तुम समस्त विद्यमान वस्तुओंमें आत्माको और आत्मामें समस्त विद्यमान वस्तुओंको देख पाओगे, आत्मानं सर्वभूतेषु सर्वभूतानि चात्मनि, तब तुमको सब वस्तुएं ब्रह्म ही भासित होंगी, सर्वं खल्विदं ब्रह्म। परंतु इस योगकी चरम उपलब्धि तो तब होती है जब तुमको इस बातका ज्ञान होता है कि यह समग्र जगत् एक अनंत भागवत स्वरूपकी ही अभिव्यक्ति, क्रीड़ा या लीला है, जब तुम समस्त भूतोंमें व्यक्त सृष्टिके आधार नैर्व्यक्तिक सत् आत्माका दर्शन नहीं करते, —यद्यपि इस ज्ञानको तुम गंवा भी नहीं देते—बल्कि तुम सृष्टिमात्रमें श्रीकृष्णका दर्शन करते हो जो एक ही साथ इस सब कुछके आधार हैं और इस समस्त व्यक्त और अव्यक्त सृष्टिसे परे भी हैं, अव्यक्तोऽव्यक्तात्परः। कारण इस सत् आत्माके परे असत्की निश्चल-

नीरवता है, जिसको शून्यवादी बौद्धोंने शून्यरूपमें अनुभव किया था और इस निश्चल-नीरवताके परे परात्पर पुरुष है (पुरुषो वरेण्यः आदित्यवर्णस्तमसः परस्तात्)। इस परात्पर पुरुषने ही अपनी सत्तासे इस जगत्को रचा है और इसमें वह अंतर्यामी होकर बसा हुआ है तथा इसको वह धारण किये हुए है। उसने यह किया है अपने अनंत और सांत ईश्वर-रूपसे, उस लीलामय श्रीकृष्णरूपसे जो अपने प्रेमसे हम सभीको अपनी ओर खींचता है, अपनी प्रभुतासे हम सभीको विवश करता है और इस बहुविध जगत्में सुख और सामर्थ्य और सौंदर्यकी अपनी शाश्वत लीलाको खेलता रहता है।

यह जगत् उसके सत्, चित् और आनंदकी एक लीलामात्र है। तुम एक दिन अनुभव करोगे कि यह जड़प्रकृति भी कोई जड़ रचना नहीं है, वह कोई द्रव्य नहीं है, बल्कि चेतनाका ही रूप है, गुण है, इन्द्रिय-ज्ञानके विषयीभूत हो सकनेके गुणका परिणाम है। स्वयं ठोसपन भी केवल संहति और धृतिरूपी गुणों-का जुटाव है, सचेतन सत्ताकी एक अवस्था ही है, और कुछ नहीं। जड़-पदार्थ (अन्न), सजीव-पदार्थ

(प्राण), मन-बुद्धि और मन-बुद्धिसे परे भी अर्थात् जो कुछ भी है वह सब श्रीकृष्ण, अनंतगुण ब्रह्म ही है, जो इस जगत्में सच्चिदानन्दरूपसे अपनी लीला कर रहा है। जब हमको यह अनुभूति हो जाती है, जब हम इसमें सुरक्षित और स्थायी रूपसे वास करने लगते हैं, तब शोक और पाप, भय, भ्रम, आंतरिक संघर्ष और दुःखकी समस्त संभावनाओंतकको हमारी सत्तामेंसे बलपूर्वक निकालकर बाहर कर दिया जाता है। तब हमें उपनिषदोंके इस सत्यका साक्षात् अनुभव होता है:—

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।

"जो कोई ब्रह्मके आनंदको प्राप्त कर लेता है उसको संसारकी किसी भी चीजसे भय नहीं रहता," और ईशोपनिषद्के इस सत्यका भी कि:—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥

"जब—विज्ञानतः—विज्ञानको प्राप्त होनेके फल-स्वरूप समस्त सृष्ट वस्तुएँ उसके लिये आत्मरूप हो जाती हैं, तब इस अवस्थामें पहुँचकर सब वस्तुओंमें

एकत्व देखनेवालेके लिये क्या मोह हो सकता है क्या शोक?" तब इस समग्र जगत्को हम एक दूसरे ही रूपमें देखते हैं और यह हमको कल्याण, सौन्दर्य, प्रकाश और आनंदका सागर दिखायी देता है और यह नजर आता है कि यह एक आनंदमय प्रवृत्ति है जो शक्ति और शांतिके शाश्वत आधारपर हो रही है। अब हम सभी वस्तुओंको शुभ, शिव, मंगल और आनंदमय देखते हैं। सभी जीवोंके साथ हम एकात्म हो जाते हैं, "सर्वभूतात्मभूतात्मा" और इस अनुभूतिमें स्थिर होकर हम इस योग्य हो जाते हैं कि हम इसे संस्पर्श, एकता और प्रेमके द्वारा दूसरों-तक पहुँचा सकें और फलस्वरूप इस ब्राह्मी स्थिति-को अपने इस जगत्में चारों ओर फैलानेके हम केन्द्र बन जाते हैं।

हमें केवल सजीव वस्तुओंमें ही नहीं, बल्कि निर्जीव वस्तुओंमें भी नारायणका दर्शन होना चाहिये, शिवकी अनुभूति होनी चाहिये और शक्तिका साक्षात्कार होना चाहिये। हमारे नेत्र, जो इस समय जड़ताके भावसे अंधे हो रहे हैं, जब परम-ज्योतिकी ओर खुलेंगे तब हमको यह पता लगेगा कि कोई भी वस्तु

निर्जीव नहीं है, बल्कि सभी चीजोंमें व्यक्त या अव्यक्त रूपसे, अंतर्निहित या विकसित रूपसे, गुप्त प्रकट या प्रकट होते हुए रूपसे, न केवल चेतनाकी वह आवृत अवस्था विद्यमान है जिसको हम अन्न कहते हैं, किन्तु प्राण, मन, विज्ञान, आनंद, चित् और सत् भी विद्यमान हैं। समस्त वस्तुओंमें ईश्वरका स्वात्म-चेतन व्यक्तित्व अधिष्ठित है और अपने ही गुणोंका आनंद लेता रहता है। फूल, फल, पृथ्वी, वृक्ष, धातु आदि सभी चीजोंमें अपना एक आनंद है जिसको तुम एक दिन जानोगे, कारण सभीमें श्रीकृष्णका निवास है। यह निवास इनके अंदर प्रवेश करके हुआ है, "प्रविश्य", जड़ या भौतिक रूपसे प्रवेश करके नहीं—क्योंकि जड़ या भौतिक जैसी तो कोई चीज है ही नहीं, देश और काल तो इंद्रियानुभूतिके लिये केवल व्यवस्था और योजना मात्र है, ईश्वरकी सृष्टि रचनेकी कलामें दृश्यको यथावत् उतार लानेके लिये है—बल्कि चित्‌रूपसे प्रवेश करके, अपनी परात्पर सत्तामें स्थित दिव्य चेतना-रूपसे प्रवेश करके।

ईशावास्यमिदं सर्व्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।

"यह संपूर्ण जगत् और इस प्राकृतिक जगत्‌के

प्रत्येक पदार्थको ईश्वरके लिये एक निवासके रूपमें रचा गया है।"

सभी प्राणियों और वस्तुओंमें, सर्वभूतेषु, उनका दर्शन होना ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्येक घटनाओं, क्रियाओं, विचारों और अनुभवोंमें, अपने-आप तथा दूसरोंमें, समस्त संसारमें, तुमको उनका दर्शन होना चाहिये। इस उपलब्धिके लिये दो बातें आवश्यक हैं। पहली यह कि तुम अपने समस्त कर्मोंके फलोंको उनके अर्पण कर दो, और दूसरी यह कि स्वयं कर्मोंको ही तुम उनके अर्पण कर दो। कर्मफलोंको अर्पण कर देनेका अर्थ यह नहीं कि तुम्हें कर्मफलोंसे वैराग्य ले लेना चाहिये, उनसे मुँह मोड़ लेना चाहिये अथवा किसी विशिष्ट लक्ष्यको सामने रखकर कर्म ही करनेसे इनकार कर देना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि कर्म तो तुम्हें अवश्य करना चाहिये, परंतु इसलिये नहीं कि तुम चाहते हो कि इससे अमुक बात हो अथवा अमुक बातका होना तुम आवश्यक समझते हो और यह समझते हो कि उस बातकी पूर्तिके लिये तुम्हारा कर्म करना आवश्यक है, बल्कि इसलिये कि यह तुम्हारा कर्तव्य है, उसको तुम्हारी सत्ताका स्वामी तुमसे मांगता है और तुम्हें वह करना ही

चाहिये फिर ईश्वर उसका फल जो कुछ भी क्यों न दे। तुम जो कुछ भी चाहते हो उसको तुम्हें एक तरफ रख देना चाहिये और यह जाननेकी इच्छा करनी चाहिये कि ईश्वर क्या चाहता है; तुम्हारा हृदय, तुम्हारे आवेग या तुम्हारी अभ्यासगत सम्मतियाँ जिन बातोंको ठीक और आवश्यक समझती हैं उनपर विश्वास मत करो और उनसे ऊपर उठकर, गीताके अर्जुनकी तरह, केवल वह बात जाननेकी चेष्टा करो जिसे ईश्वरने ठीक और आवश्यक निर्धारित किया है। इस बातका दृढ़ विश्वास रखो कि जब तुम अपने कर्त्तव्य-कर्मका ठीक तरहसे पालन करोगे तब उसके फलस्वरूप जो कुछ ठीक और आवश्यक है वह अवश्य होगा। और यदि वह फल तुम्हारी पसंद या आशाके अनुकूल न भी हो तब भी तुम्हें उपर्युक्त विश्वासको बनाये रखना चाहिये। कारण जो शक्ति जगत्‌का शासन करती है वह कम-से-कम तुम्हारे जितनी बुद्धिमान तो है ही और यह नितांत आवश्यक नहीं है कि उसके प्रबंधमें तुमसे सलाह ली जाय अथवा तुमको संतुष्ट किया जाय, इस प्रबंधकी देख-रेख ईश्वर कर रहा है।

पर यह कर्तव्य-कर्म क्या है? इसको बताना बड़ा

कठिन है,—गहना कर्मणो गतिः। अधिकांश लोग कर्तव्य-कर्मका वह अर्थ करेंगे जो अंगरेजी भाषाके 'ड्यूटी' शब्दसे लिया जाता है। यदि उनसे इस शब्दकी व्याख्या करनेको कहा जाय तो वे कहेंगे कि इसका अर्थ है उचित और नैतिक कर्म, वह कर्म जिसको लोग न्याय और सदाचारकी कसौटीसे ठीक समझते हैं, जिसको तुम स्वयं अपने अंतःकरणकी साक्षीके साथ यह कह सको कि यह उचित कर्म है, या फिर ऐसा कर्म जिसकी समाज, राष्ट्र और मानव-जातिका हित तुमसे आशा रखता है। परंतु वह मनुष्य जो कर्त्तव्य-विषयक इस प्रकारके व्यक्तिगत और सामाजिक विचारोंके बंधनमें जकड़ा रहेगा,—यद्यपि ये विचार अज्ञानी मनुष्यकी शोर मचानेवाली कामनाओं और व्यक्तिगत अहंकारको संयत और नियंत्रित करनेके लिये आवश्यक हैं—निःसंदेह एक ऐसा मनुष्य बन सकेगा जिसको लोग भला आदमी कहते हैं, किन्तु इस योगकी सिद्धिको वह कभी नहीं पा सकेगा। वह तो केवल कर्म-फलोंकी एक प्रकारकी इच्छाके स्थानपर दूसरे प्रकारकी इच्छाको स्थापित करेगा, इन उच्चतर फलोंको पानेके लिये, शायद और अधिक आवेशके साथ संघर्ष करेगा और

उनके न मिलनेपर बुरी तरह दुःखी भी होगा। परोपकार करनेके आवेशसे अधिक भयंकर और कोई भी आवेश नहीं होता, पुण्य-कर्मके जमे हुए अहंकार-को हिला डालना जितना कठिन होता है उतना अन्य किसी प्रकारके अहंकारको हिला डालना नहीं होता, इसका कारण यह है कि इस प्रकारका आवेश या अहंकार स्वयं अपनी ही दृष्टिमें और दुनियाकी दृष्टिमें भी, उचित दिखायी देता है, अतएव वह किसी उच्चतर नियमके आगे सिर झुकानेकी आवश्यकताका जरा भी अनुभव नहीं करता। ऐसे मनुष्यको यदि फलके विषयमें शोक न भी हो तो भी उसमें राजसिक कर्त्ताका प्रयास और परिश्रम तो रहेगा ही, वह संघर्ष करेगा, युद्ध करेगा, उत्सुक होगा, क्लांत हो जायगा, गुणोंके बंधनमें सदा जकड़ा रहेगा, त्रिगुणातीत नहीं हो सकता।

इसी प्रकारकी व्यक्तिगत पुण्यकी भावना और सामाजिक कर्तव्यकी भावनाके वशीभूत होकर ही अर्जुनने युद्ध करनेसे इनकार किया था। उसकी युक्तियोंके विरुद्ध श्रीकृष्णने दो भिन्न प्रकारके विचार उसके सामने रखे। एक हीन कोटिका उस मनुष्यके उपयोगके लिये जो गुणोंके बंधनमें है पर उनसे मुक्त

होना चाहता है, दूसरा श्रेष्ठ कोटिका, मुक्त मनुष्यके लिये; पहला शास्त्र और दूसरा कर्मफलोंका ही नहीं, बल्कि स्वयं कर्मोंका भी भगवान्‌को समर्पण। शास्त्रकी देन यह होती है कि वह हमसे परे, हमारी व्यक्तिगत इच्छाओं, युक्तियों, आवेशों और पक्षपातोंसे भिन्न और हमारी स्वार्थपरता और निजी इच्छासे ऊपर उठकर एक ऐसे आदर्शको उपस्थित करता है जिसके अनुसार यदि हम सच्ची भावनाके साथ अपने जीवनको बना लें तो न केवल हम आत्म-संयम ही प्राप्त कर लेते हैं, बल्कि सात्त्विक अहंकारके भी बहुत अधिक मात्रामें घट जानेके कारण हम अपने-आपको मुक्तिके लिये भी तैयार कर लेते हैं। प्राचीन कालमें वैदिक धर्म ही शास्त्र था। यह वैदिक धर्म मनुष्यके मनोविज्ञान और जगत्‌के नियमोंके गंभीर ज्ञानपर आधार रखता था और मनुष्यके सामने उसके सच्चे स्वरूपको खोलकर रख देता तथा उसको यह दिखा देनेवाला होता था कि वह अपने स्वभावके अनुकूल किस तरहका जीवन बितावे। बादमें स्मृतियोंकी व्यवस्था हुई। स्मृतियोंने भी अधिक मोटे रूपमें वही करनेका यत्न किया, जिसे वेदोंने चातुर्वर्ण कहा है, उसीके अनुसार मनुष्योंका सामान्य विभागोंमें वर्गीकरण

करनेका वैसा ही यत्न किया। आज यह चातुर्वर्ण अंध यांत्रिक रिवाज और सामाजिक रूढ़ियोंका भी गया गुजरा रूप रह गया है, यह सात्विक नहीं तामसिक है, मुक्तिके लिये तैयार करनेवाली साधना नहीं, बल्कि केवल बंधनमात्र है।

बड़े-से-बड़े शास्त्रका भी अहंकारके लिये, पुण्य कर्मके अहंकार, पक्षपात और व्यक्तिगत सम्मतिके अहंकारके लिये दुरुपयोग किया जा सकता है। शास्त्र अधिकसे अधिक यही है कि वह मुक्तिकी तैयारी-के लिये एक महान् साधन है। वह शब्द ब्रह्म है। परंतु हमें केवल तैयारी मात्रसे संतुष्ट नहीं होना चाहिये, बल्कि ज्योंही हमारी आंखें खुलें, त्योंही वास्तविक मुक्तिकी ओर दौड़ पड़ना चाहिये। मुक्त आत्मा और वह मुक्तिका साधक भी जिसने अपने कर्मोंका भी भगवान्‌को समर्पण कर दिया है, बड़े-से-बड़े शास्त्रके भी परे हो जाता है, शब्दब्रह्मातिवर्त्तते।

कर्मके समर्पणकी सबसे बढ़िया नींव यह है कि साधक यह अनुभव करे कि प्रकृति ईश्वरके आदेशानु-सार हमारे समस्त कर्मोंको करती है और ईश्वर हमारे

स्वभावके द्वारा उन कर्मोंको निर्धारित करता है। इस नींवके पड़ते ही समस्त कर्म ईश्वरके हो जाते हैं, तुम्हारे नहीं रह जाते, न तुमपर कोई उत्तरदायित्व ही रह जाता है। वास्तवमें न तो कोई उत्तरदायित्व है न कर्म-बंधन, कारण ईश्वर किसीके प्रति उत्तरदायी नहीं है, वह हर प्रकारसे स्वामी है, स्वतंत्र है। तब हमारे कर्म, शास्त्रके अनुसार चलनेवाले पुरुषके कर्मोंकी तरह न केवल स्वभावनियत अतएव धर्म बन जाते हैं, अपितु हमारा स्वभाव भी स्वयं एक यंत्रकी तरह ईश्वरद्वारा ही नियंत्रित हो जाता है। ज्ञानकी इस स्थितिको प्राप्त कर लेना हमारे लिये सहज नहीं है, कारण अज्ञानके संस्कारोंसे हम भरे पड़े हैं, किन्तु तीन क्रमिक अवस्थाएं हैं जिनके द्वारा इस स्थितिको शीघ्रतासे प्राप्त किया जा सकता है। प्रथम अवस्था है इस श्लोकके भावमें तन्मय हो जाना,—

त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि।

"हे हृषीकेश! मेरे हृदयमें विद्यमान तुझसे जैसा मैं नियुक्त किया जाता हूँ वैसा ही मैं करता हूँ।"

जब यह भाव तुम्हारे दैनिक जीवनमें प्रविष्ट हो जायगा तब दूसरी अवस्थाको प्राप्त करना सहज होगा और तुम गीताके इस ज्ञानमें निवास कर सकोगे,—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया ॥

"ईश्वर समस्त जीवोंके हृदयमें स्थित है और सबको वहांसे अपनी त्रिगुणात्मिका मायाके द्वारा इस तरह घुमा रहा है मानो वे किसी यंत्रचक्रपर आरूढ़ हों।" तब तुम तीनों गुणोंकी क्रियाको अपने अंदर अनुभव कर सकोगे और इस यंत्रकी गति-विधिपर लक्ष्य रख सकोगे। अब तुम "मैं करता हूँ," तथा करोमि, नहीं कहोगे, बल्कि यह अनुभव करोगे कि ये गुण ही हैं जो कर्म करते हैं, गुणा वर्त्तन्त एव। इन अवस्थाओंमें, विशेषतः उस समयतक जबतक कि तुम गुणोंकी क्रियाको विवेकपूर्वक न पहचानने लगो, एक बहुत बड़ी कठिनाई रहती है और वह है अपने स्वभावके अंदर अशुद्धिका भान और पीछे लगे हुए पाप और पुण्यके विचारोंका भूत। तुम्हें यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि जब तुमने अपने-आपको

ईश्वरके हाथोंमें सौंप दिया है तब इन अशुद्धियोंको वह आप ही अपनी प्रक्रियाद्वारा निकाल देगा, तुम्हें तो केवल सावधान रहना चाहिये, तुम तो न पापमें और न पुण्यमें, किसीमें भी आसक्त नहीं हो सकते। कारण भगवान्‌ने बारबार अभय वचन दिया है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है "प्रतिजाने" "मैं तुम्हें प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ," 'न मे भक्तः प्रणश्यति' "मेरे भक्तोंका नाश नहीं हो सकता।"

तीसरी अवस्था दूसरी अवस्थामेंसे निकलती है, यह या तो ईश्वरकी पूर्ण उपलब्धि होनेपर होती है या ईश्वरके प्रसादसे स्वतः ही हो जाती है। इस अवस्थामें यह होगा कि न केवल पुरुष कर्तृत्व अभिमानसे अलग और त्रिगुणातीत हो जायगा, बल्कि प्रकृति भी, यद्यपि गुणोंका उपयोग करेगी, फिर भी उनके बंधनसे मुक्त हो जायगी। जिसे हम सत्त्व करके जानते हैं, वह विशुद्ध प्रकाश और ज्योतिमें परिणत हो जायगा और उसकी (सत्त्व) प्रकृति एक विशुद्ध, स्वतंत्र और अनंत स्वतःसिद्ध प्रकाशमें निवास करेगी। जिसे हम तम करके जानते हैं वह विशुद्ध शम अथवा शांतिमें परिणत हो जायगा और उसकी (तमोगुणी)

प्रकृति एक अकथनीय और अनंत विश्राम तथा शांति-पर स्थिरतापूर्वक टिकी हुई होगी। जिसे हम रज करके जानते हैं वह विशुद्ध तपमें परिणत हो जायगा और उसकी (रजोगुणी) प्रकृति दिव्य शक्तिके स्वतंत्र और अनंत समुद्रमें, स्थिरताके आधारपर और ज्योतिके स्वर्गमें प्रवाहित होती रहेगी। कर्म इस प्रकार होते रहेंगे मानो वे ईश्वरके ज्ञानकी, जो ईश्वरके संकल्पके साथ एक है, अनायास होनेवाली बाह्य अभिव्यक्तिरूप हों। यह अनंतताकी वह अवस्था है जिसमें बद्ध और सीमित सत्त्व, रज तथा तमका जो यह संघर्ष है वह बदलकर मुक्त प्रकाश, तम और शमका एक शक्तिशाली सामंजस्य बन जाता है। और इस अवस्थातक पहुँचनेके पहले, इसके मार्गमें ही, तुम यह अनुभव करोगे कि कोई बड़ी भारी शक्ति, जो तुम्हारी अपनी नहीं है, जो तुम्हारे शरीरमें निहित नहीं है, यद्यपि वह तुम्हारे शरीरको धारण किये हुए और अधिकृत किये हुए है, तुम्हारे लिये विचार करती है, तुम्हारे लिये अनुभव करती है, तुम्हारे लिये कर्म करती है; तुम देखोगे कि तुम्हारा मन और तुम्हारा हृदय ही नहीं, किंतु तुम्हारा शरीरतक भी उसी शक्तिके द्वारा परिचालित हो रहा है, तुम्हारे द्वारा नहीं। तुम्हारे लिये

हो रहे उन विचारों, अनुभवों और कर्मोंका तुम आनंद तो भोगोगे, किन्तु न तो तुम उनपर अपना अधिकार रखोगे और न तुम स्वयं उनके अधिकारमें होओगे— **कर्माणि प्रविलीयन्ते,** तुम्हारे कर्म, किसी प्रकारके चिह्नतकको छोड़े बिना, इस तरह विलीन हो जायँगे जैसे समुद्रकी ऊपरी सतहपरसे लहर विलीन हो जाती है या जिस तरह कमलके पत्तेपरसे पानी ढलक जाता है। अब तुम्हारे मन, प्राण और शरीर तुम्हारे नहीं रह जायँगे, बल्कि वे ईश्वरके हो जायँगे, और तुम स्वयं तो केवल सत्ता, ज्ञान और आनंदके एक ऐसे केंद्र हो जाओगे जिसके द्वारा ईश्वर उस आधारमें अपनी क्रिया करता है। यही वह अवस्था है जिसमें साधक पूर्ण रूपसे तच्चित्त हो जाता है। तच्चित्तका अर्थ है अपनी समस्त सचेतन सत्ताको ईश्वरके अर्पण कर देना। इसी अवस्थाको प्राप्त होनेपर गीताका निम्न-लिखित वर्णन पूर्ण रूपसे चरितार्थ होता है,—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

"जिसकी सत्ता अहंभावसे मुक्त है और जिसकी बुद्धिपर कोई दाग नहीं पड़ता।" यही है कर्मोंका समर्पण जिसको श्रीकृष्ण इतना महत्त्व देते हैं।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशी निर्म्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

"अध्यात्मयोगमें अपनी समग्र सचेतन सत्ताको लीन कर देने द्वारा, अपने समस्त कर्मोंको मुझे सौंप देता हुआ तू इच्छा और ममताकी भावनासे मुक्त हो जा, युद्ध कर, अपनी आत्माके ज्वरसे रहित हो जा।" इस महान् और पूर्ण मुक्तिको प्राप्त करनेके लिये निस्पृह, निर्द्वन्द्व और निरहंकार होना आवश्यक है, कारण वस्तुओंको पानेकी स्पृहा, संस्कार और अहंकार ये तीनों ही आत्म-समर्पणके प्रधान शत्रु हैं। यदि तुम निर्द्वंद्व हो गये हो तो ही तुम निस्पृह हो सकते हो अन्यथा नहीं, कारण प्रत्येक द्वंद्व—मनका स्वभाव ही इसी तरहका होनेके कारण,—मनमें किसी न किसी तरहके रागद्वेषको, अर्थात् पसंदगी और नापसंदगी, आकर्षण और निराकरणको पैदा करता है, फिर चाहे ये द्वंद्व निम्नतम कोटिके हों जो हमारे मन-पर शरीरके द्वारा असर करते हैं जैसे, भूख और प्यास, सरदी और गरमी, शारीरिक सुख और पीड़ा, या ये मध्यम कोटिके हों जो हमारे मनपर हमारी भावनाओं और इच्छाओंके द्वारा असर करते हैं जैसे,

सफलता और विफलता, विजय और पराजय, सम्पत्ति और विपत्ति, प्रसन्नता और नाराजगी, हर्ष और शोक, प्रेम और घृणा, या फिर ये उच्चतम कोटिके हों जो हमारे मनपर विवेक बुद्धिद्वारा असर करते हैं जैसे, पुण्य और पाप, न्याय और अन्याय, सत्य और मिथ्या। इन द्वंद्वोंपर हम निम्नलिखित साधनों-द्वारा ही पूरी तरह विजय प्राप्त कर सकते हैं। पूर्ण-ज्ञानके द्वारा, ऐसा ज्ञान जो ईश्वरको समस्त वस्तुमें देखता है और इस प्रकार ईश्वरकी इस महान् विश्व-लीलामें प्रत्येक वस्तुका दूसरी वस्तुओंके साथ जो परस्पर संबन्ध है उसको अच्छी तरह जान लेता है, अथवा अनपायिनी भक्तिके द्वारा, ऐसी भक्ति जो सब कुछको अपने प्रियतमकी ओरसे आता हुआ जानकर सदा आनंदके साथ स्वीकार करती है—और इस तरह द्वंद्वोंके लिये कोई स्थान ही नहीं रहता,—या फिर सिद्ध कर्मके द्वारा, ऐसा कर्म जिसमें समस्त कर्म ईश्वरको यज्ञरूपसे अर्पित कर दिये जाते हैं और साधक सफलता, विफलता, यश, अपयश आदि,—जो प्रायः कर्मके साथ लगे रहते हैं,— द्वंद्वोंकी ओरसे सर्वथा उदासीन हो जाता है। इस तरहका पूर्ण ज्ञान, ऐसी अनपायिनी भक्ति और ऐसा सिद्ध कर्म

आत्मसमर्पणके संकल्प और उसकी साधनाके फल-स्वरूप अवश्यंभावी रूपसे प्राप्त हो जाते हैं।

परंतु अहंकार हमपर या हमसे संबन्धित वस्तुओं-पर होनेवाले अन्य वस्तुओंके संबन्ध और प्रभावको जीवनका मानदंड बनाकर, द्वंद्वोंको हमारे बंधनकी सांकल बना देता है। इस अहंकारको, इसकी जो क्रिया हमारे जीवन और साधनापर होती है उस हिसाबसे देखें तो, यह हमको तीन प्रकारका दिखायी देगा, राजसिक, तामसिक और सात्त्विक। रजोगुण इच्छाके द्वारा और हमारे स्वभावमें कर्मण्यता और अधिकारके लिये जो लालसा है उसके द्वारा, हमको वन्धनमें डालता है, यह सदा ही कर्म करने और उसके फलको पानेके लिये उत्सुक रहता है, अतएव राजसिक अहंकार से मुक्त होनेके लिये ही हमको यह आदेश दिया गया है कि "फलकी कामनासे कर्म मत करो," मा कर्मफलहेतुर्भूः, और यह आदेश मिला है कि हम अपने कर्मोंको ईश्वरके अर्पण कर दें। तमोगुण दुर्बलताके द्वारा और हमारे स्वभावमें जो आराम और अकर्मण्यताकी चाह है उसके द्वारा, हमको बंधनमें डालता है, यह सदा हमको आलस्य,

उदासी, मनकी उलझन, भय, निराशा, विषाद और निश्चेष्टताके भावमें डुबाता रहता है, इस तामसिक अहंकारसे मुक्त होनेके लिये ही हमको यह आदेश दिया गया है कि "अकर्ममें तुझे कभी आसक्ति न हो" मा ते संगोस्त्वकर्मणि, और यह आज्ञा हुई है कि चाहे हम आगे बढ़ते हुए प्रतीत होते हों या अपने-आपको एक ही स्थानपर खड़ा हुआ अनुभव करते हों, या फिर पीछेकी ओर हटते हुए ही क्यों न दिखायी देते हों, हमको सदा स्थिर श्रद्धा, अथक धैर्य और हर्षयुत लगनके साथ योग-साधनमें लगे रहना चाहिये, अनिर्विण्णचेतसा। सत्त्वगुण ज्ञान और सुखके द्वारा हमको बंधनमें डालता है, यह सदा अपनी किसी अधूरी अनुभूतिके साथ, अपनी ही बनायी हुई किसी पुण्यकी भावनाके साथ, अपने ही बनाये हुए किसी सिद्धांत या सम्मतिकी यथार्थताके साथ आसक्त रहता है अथवा जब इसका अधिक-से-अधिक उद्रेक होता है तब यह परोपकार, न्याय और पुण्य-की अपनी ही व्यक्तिगत भावनाको—जैसा कि अर्जुन-के बारेमें हुआ—अपनी सब इच्छाओंको समर्पण कर देनेकी जो ईश्वरकी हमसे मांग है, उसके विरुद्ध

लाकर खड़ा कर देता है। इस सात्त्विक अहंकारसे बचनेके लिये ही हमको पुण्य और पापके द्वंद्वोंके, "उभे सुकृतदुष्कृते," ऊपर उठ जाना चाहिये।

अहंकारपर प्रत्येक गुणकी जो क्रिया होती है उसके कारण उस साधकको जिसने आत्मसमर्पणका संकल्प तो कर लिया है पर अभीतक उसकी पूर्णतातक नहीं पहुँच सका है, एक-एक विशेष प्रकारका खतरा रहता है। रजोगुणसे तब खतरा होता है जब साधकपर इस प्रकारके अभिमानपूर्ण विचारोंका आक्रमण होता है कि "मैं एक बड़ा भारी साधक हूँ, मैं अमुक अवस्थातक आगे बढ़ चुका हूँ, मैं ईश्वरका एक महान् यंत्र हूँ," या तब जब कि वह किसी कार्यके विषयमें यह समझकर आसक्त हो जाता है कि यह ईश्वरका कार्य है और इसको करना ही होगा और इस तरह अपने-आपको उसमें डाल देता है और उसके लिये कष्ट उठाता रहता है, मानो ईश्वरके काममें उसको ईश्वरसे भी अधिक दिलचस्पी हो और वह उस कामको ईश्वरसे भी अधिक अच्छी तरहसे करनेकी योग्यता रखता हो। बहुतसे लोग यद्यपि वे सर्वदा अपने कर्म राजसिक अहंकारके भावसे ही करते होते हैं फिर भी

अपने जीको यह कहकर समझा लेते हैं कि ईश्वर ही उनके द्वारा कर्म कर रहा है और इस कर्ममें उनका अपना कोई हाथ नहीं है। यह इसलिये होता है कि ये लोग आत्मसमर्पणकी भावनाको केवल बौद्धिक स्वीकृति दे देनेमात्रसे संतुष्ट हो जाते हैं और जबतक उनका आधार और समस्त जीवन इस भावनासे ओत-प्रोत नहीं हो जाता तबतक इंतजार नहीं करते। अतः यह आवश्यक है कि हमको इस बातकी सतत स्मृति बनी रहे कि ईश्वर सबमें है, और हम व्यक्तिगत स्पृहाका (उत्सुकता) त्याग करते रहें तथा अपनी अंतः क्रियाओंका तबतक सावधानीके साथ निरीक्षण करते रहें जबतक कि ईश्वर अपने आत्मज्ञानके पूर्ण प्रकाशके द्वारा, **ज्ञानदीपेन भास्वता**, हममें अब आत्म-भ्रम होनेकी संभावनातकको नष्ट नहीं कर देता।

तमोगुणसे दो प्रकारका खतरा होता है, एक तब जब कि पुरुष, उसके अंदर जो तमस् है उसके साथ अपनेको तदाकार करते हुए, यह समझता है कि "मैं निर्बल हूँ, पापी हूँ, दुःखी हूँ, अज्ञानी हूँ, किसी कामका नहीं हूँ, इससे या उससे अधम हूँ, मेरेद्वारा ईश्वर क्या कर सकेगा?" मानो ईश्वर अपने यंत्रोंकी क्षणिक

योग्यता और अयोग्यताओंसे सीमित हो और यह बात सत्य न हो कि वह मूकको वाचाल कर सकता है और पंगुको पर्वत लांघनेकी क्षमता दे सकता है, मूकं करोति वाचालं पंगुं लङ्घयते गिरिम्,—दूसरा तब जब कि साधकको एक प्रकारकी चैन, अभावात्मक शांतिकी एक बड़ी भारी चैनका मजा मिलता है और वह अपने-आपको समस्त कष्टोंसे मुक्त और शांतिके साम्राज्यमें अनुभव करता हुआ, जीवन और कर्मसे मुँह मोड़ लेता है और अकर्मकी शांति और आरामके साथ आसक्त हो जाता है। इस बातको सदा याद रखो कि तुम भी ब्रह्म हो और भागवत शक्ति तुममें कार्य कर रही है। ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ताकी सिद्धिके लिये और इस लीलामें उसके आनंदकी प्राप्तिके लिये सदा आगे बढ़ते चलो। श्रीकृष्ण अर्जुनको लोक-संग्रहके लिये, लोकसंग्रहार्थाय, कर्म करनेका आदेश देते हैं, क्योंकि वे नहीं चाहते कि यह जगत् प्रकृतिकी जड़तामें डूब जाय, बल्कि उनका आग्रह है कि जिस प्रकार वे स्वयं कर्म करते हैं उसी प्रकार तुम भी कर्म करो। उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्, "यदि मैं कर्म न करूँ तो ये जगत् तमसाक्रांत हो

जायँगे और प्रकृतिकी जड़तामें डूब जायँगे।" अकर्ममें आसक्त होनेका अर्थ है अपने कर्मोंका भगवान्को नहीं, किन्तु अपने ही तामसिक अहंकारको अर्पण कर देना।

सत्त्वगुणसे तब खतरा होता है जब साधक आसक्त हो जाता है अपने तर्कके किसी एकदेशीय निर्णयसे, साधनाकी किसी विशेष प्रकारकी क्रिया या प्रवृत्तिसे, योगकी किसी विशेष प्रकारकी सिद्धिके आनंदसे—जैसे कि पवित्रताकी अनुभूति या किसी विशेष प्रकारकी शक्तिकी प्राप्ति या भगवान्के संस्पर्शका आनंद या स्वतंत्रताका भान—और उसके लिये वह व्याकुल रहता है, तात्पर्य यह कि वह एकमात्र ऐसी ही किसी वस्तुके लिये आसक्त हो जाता है और दूसरी किसी चीजको ग्रहण करना नहीं चाहता। याद रखो कि यह योग तुम अपने लिये नहीं कर रहे हो और उपर्युक्त चीजें यद्यपि सिद्धिके अंग हैं, फिर भी ये सिद्धिके उद्देश्य नहीं हैं, कारण तुमने आरंभमें ही यह निश्चय किया है कि तुम ईश्वरसे कुछ मांगोगे नहीं, किन्तु वह जो कुछ अपनी मर्जीसे तुम्हें देगा उसे ही ग्रहण करोगे। अब रहा आनंदके बारेमें, सो एक निःस्वार्थ आत्मा ईश्वरकी उपस्थितिके आनंदको भी छोड़ सकता है यदि ईश्वरकी वैसी इच्छा हो। तुम्हें उच्चतम

सात्त्विक अहंकारसे भी, मुमुक्षुत्वके सूक्ष्म अज्ञानसे भी, मुक्तिकी कामनासे भी मुक्त होना चाहिये और समस्त सुख और आनंदको बिना किसी आसक्तिके ग्रहण करना चाहिये। जब तुम यह कर सकोगे तभी तुम गीतामें वर्णित सिद्ध पुरुष बन सकोगे।

अतः इस योगकी निम्नलिखित प्रक्रियाएँ हैं:—

(१) आत्म-समर्पणका संकल्प करना।

(२) आत्मज्ञानके द्वारा आधारसे अलग होकर निज स्वरूपमें प्रतिष्ठित होना।

(३) सर्वत्र, समस्त वस्तुओंमें और समस्त घटनाओंमें ईश्वरका दर्शन करना, कर्मफलोंको और स्वयं कर्मोंको भी ईश्वरके अर्पण करना, और उसके फलस्वरूप अज्ञानसे, अहंकारसे, द्वंद्वोंसे, इच्छासे छुटकारा पा जाना और शुद्ध, मुक्त सिद्ध और आनंदमय हो जाना।

परंतु एक बार जहाँ आत्मसमर्पणका संकल्प कर लिया गया कि ये प्रक्रियाएँ ईश्वरकी शक्तिद्वारा, प्रकृतिकी महान् शक्तिशालिनी प्रक्रियाद्वारा आप-ही-आप कार्यरूपमें परिणत होने लगेंगी। तुम्हारी ओर-से जो कुछ करना अपरिहार्य है, वह है अनुमति और

स्मृति अर्थात् इस कार्यमें तुम्हारी अनुमति रहे और अपने लक्ष्यकी तुमको स्मृति रहे। अनुमति देनेका अर्थ यह है कि तुममें जो यौगिक गतियां होती हों और अपनी साधनाकी अवस्थाओंके अंगभूत तुम्हारे अंदर या बाहर जो कुछ भी घटनाएँ घटती हों उनको तुम्हारी अस्थायी अनुमति मिलनी ही चाहिये, शुभ होनेपर खुशीसे फूल नहीं जाना चाहिये और अशुभ होनेपर उद्विग्न नहीं होना चाहिये, एकको अपने पास रखने और दूसरीसे पिंड छुड़ानेके लिये हृदयमें किसी तरहका संघर्ष नहीं करना चाहिये, पर जो अंतिम अवस्था लानी है उसको सदा ध्यानमें रखना और उसको स्थायी अनुमति देते रहना चाहिये। अस्थायी अनुमतिका अर्थ है कार्यके तरीकोंको निष्क्रिय रूपसे मान लेना, न कि परिणामोंको निश्चित रूपसे स्वीकार कर लेना। स्थायी अनुमतिका अर्थ है पहलेसे ही परिणामोंकी प्रत्याशा करके उनको स्वीकृति दे देना, यह एक प्रकारका निश्चेष्ट और निष्काम रूपसे संकल्प-शक्तिका प्रयोग करना है। इस निष्काम संकल्प-शक्तिका सतत प्रयोग करते जाना और इस मार्ग और उसके लक्ष्यके लिये तीव्र अभीप्सा होना और इनकी सतत स्मृति रहना ही धृति और उत्साह है, जिनका

साधकमें होना आवश्यक कहा गया है। व्याकुलता इनसे अधिक तीव्र है, किन्तु उसकी शक्ति इनकी अपेक्षा कम व्यापक है, और वह विक्षोभ पैदा करती तथा थकावट लाती है, साधनकालमें बहुत अधिक सुख और दुःख देती है, किन्तु परिणाममें उतने विशाल आनंदको नहीं देती। इस मार्गका अनुसरण करनेवालेको प्राचीन युगोंके मनुष्योंकी भांति 'धीर' होना चाहिये, 'धीर' यह उपनिषदोंमें एक बहुतही प्रशंसा-सूचक शब्द है। स्मृति रखने अथवा स्मरण करनेमें तुम्हें अप्रमत्त अर्थात् प्रमादरहित होना चाहिये। गुणोंकी बाढ़ और उनके आक्रमणके कारण जब स्मृतिभ्रंश हो जाता है तभी योगी भ्रष्ट होते, अपने दृढ़ आसनसे गिर जाते और पथभ्रष्ट हो जाते हैं। परंतु जब प्रमाद होता हो और पतन अथवा अंधकारकी अवस्था जमी हुईसी दिखायी देती हो तब भी तुमको घबराना नहीं चाहिये, कारण तुम्हारा स्थायी पतन हो जाय इस बातका तो कोई डर है ही नहीं क्योंकि स्वयं भगवान्ने तुम्हारा पूर्ण भार अपने ऊपर ले लिया है और यदि तुम ठोकर खाते हो तो इसका यही अर्थ है कि यह ठोकर खाना तुम्हारे हितके लिये है, बालक ठोकर खा-खाकर और गिर-गिरकर ही

चलना सीखता है। अप्रमत्त होनेकी आवश्यकता उस समय जाती रहती है जब तुम योग और उसके उद्देश्यकी स्मृतिके स्थानपर समस्त वस्तुओं और घटनाओंमें ईश्वरकी सतत स्मृतिको स्थापित कर लेते हो। यही है गीताका नित्य-अनुस्मरण। जो लोग आरंभसे ही पूर्ण समर्पण कर सकते हैं उनके लिये तो कोई सवाल ही नहीं है, क्योंकि उनका मार्ग बहुतही सरल होता है और वे अत्यंत तेज गतिसे आगे बढ़ते हैं।

सनत्सुजातीयमें यह कहा गया है कि सिद्धिके लिये चार बातें आवश्यक होती हैं—शास्त्र, उत्साह, गुरु और काल। तुम्हारा शास्त्र अर्थात् मार्ग वह है जिसे मैं निर्देश कर रहा हूँ, और जिस उत्साहकी आवश्यकता है वह है उपर्युक्त अनुमति और नित्य स्मरण, स्वयं ईश्वर ही गुरु हैं और बाकी सब कुछके लिये केवल काल अपेक्षित है। स्वयं ईश्वर ही गुरु हैं इस बातका तुम्हें तब पता लगेगा जब तुमको ज्ञानकी प्राप्ति होगी, तब तुम देखोगे कि तुम्हारे अंदर और बाहरकी प्रत्येक छोटी-छोटी घटनाएं भी किस प्रकारसे अनंत ज्ञानद्वारा आयोजित और कार्यमें परिणत की गयी हैं, जिससे कि योगकी स्वाभाविक प्रक्रिया

संपादित होती रहे, किस प्रकारसे अंतर और बाह्य प्रवृत्तियोंको एक दूसरेपर कार्य करनेके लिये इस तरह व्यवस्थित किया गया और उन्हें एक साथ लाकर मिला दिया गया है, जिससे कि अपूर्णता दूर की जा सके और पूर्णता लायी जा सके। सर्वशक्तिमान प्रेम और ज्ञान तुम्हारे अभ्युत्थानके लिये कार्य कर रहे हैं। अतः इस कार्यमें जो समय लग रहा है वह बहुत लंबा जान पड़नेपर भी कभी दुःखी मत होओ, बल्कि जब अपूर्णताएं और बाधाएं उठ खड़ी हों तब अप्रमत्त रहो, धीर बने रहो, उत्साह रखो और बाकीका काम ईश्वरपर छोड़ दो। समय तो लगेगा ही। तुम्हारी समग्र मानव प्रकृतिको दिव्य प्रकृतिमें रूपांतरित कर देने, शताब्दियोंमें होनेवाले विकासको कुछ वर्षोंमें ही पूरा कर देने जैसा एक अत्यन्त महान् कार्य तुम्हारे अंदर किया जा रहा है। इस कार्यमें समय लगता देखकर तुम्हें कुढ़ना नहीं चाहिये। दूसरे-दूसरे मार्ग हैं जो अधिक तात्कालिक फल बताते हैं अथवा कम-से-कम वे तुम्हें कुछ ऐसी निश्चित क्रिया, जिसे तुम स्वयं कर सको, बता देनेके द्वारा तुम्हारे अहंकारको एक तरहका संतोष करा देते हैं कि तुम कुछ कर रहे हो, जैसे आज इतने अधिक प्राणायाम किये, आज इतनी

अधिक देरतक आसन जमाया, आज इतने अधिक जप किये, इतनी साधना हो गयी, इतनी प्रगति साफ-साफ देखनेमें आयी। परन्तु तुमने जब इस मार्गको एक वार चुन लिया है तो तुम्हें इसको पकड़े रहना चाहिये। दूसरे मार्ग मानव-निर्मित पद्धतियोंके हैं; इस मार्गकी तरह नहीं जिसको अनन्त शक्ति कार्यान्वित करती है। इस मार्गमें शक्ति चुपचाप और कभी-कभी बिलकुल अज्ञात रूपसे ही अपने लक्ष्यकी ओर चलती है; कहीं वह आगे बढ़ती है तो कहीं रुकी हुई-सी दिखायी देती है और फिर अपनी शक्तिशालिता और विजयशीलताका परिचय देती हुई उस विशाल कार्यको, जिसको उसने इस बीचमें पूरा कर लिया होता है, हमारे सामने लाकर उपस्थित कर देती है। मनुष्य-निर्मित मार्ग, मनुष्यकी बुद्धिद्वारा खोदी हुई नहरोंके समान हैं, जिनमें तुम आसानीसे, निरापद और निस्संदिग्ध रूपसे यात्रा तो कर सकते हो, किंतु तुम्हारी यह यात्रा एक निश्चित स्थानसे दूसरे निश्चित स्थान-तक ही होगी। यह मार्ग एक विशाल और पथ-विहीन सागरकी तरह है जिसके द्वारा तुम दूर-दूर-तक जगत्के समस्त भागोंकी यात्रा कर सकते हो और जिससे तुम अनंतकी स्वतंत्रतामें प्रविष्ट हो जाते

हो। जिन थोड़ी-सी चीजोंकी तुम्हें जरूरत है वे हैं जहाज, पतवार, दिग्दर्शक, प्रेरक-शक्ति और एक कुशल कप्तान। ब्रह्म-विद्या तुम्हारा जहाज है, श्रद्धा तुम्हारी पतवार है, आत्म-समर्पण तुम्हारा दिग्दर्शक है और प्रेरक-शक्ति वह दैवी शक्ति है जो ईश्वर के आदेशानुसार जगतोंका सृजन, संचालन और संहार करती है और स्वयं ईश्वर तुम्हारा कप्तान है। परन्तु ईश्वरकी अपनी निराली कार्य-प्रणाली है और हरेक चीजके लिये उसका निर्द्धारित किया हुआ अपना काल है। उसकी कार्य-प्रणालीको देखते रहो और उसके कालकी प्रतीक्षा करो। शास्त्रको स्वीकार करने और गुरुकी आज्ञाके अधीन होनेके महत्त्वको भी समझो और उन युरोपियनोंका अनुकरण मत करो जो व्यक्तिगत बुद्धिकी स्वतन्त्रतापर जोर देते हैं और यह चाहते हैं कि उनकी बुद्धिके विवेक कर सकनेके लिये शिक्षित या तर्कके लिये योग्य होनेके पहले ही उसको उसकी तजरीहों और पसंदोंके, जिन्हें वे तर्कके नामसे पुकारते हैं, अनुसार चलनेकी स्वतंत्रता दी जाय। आजकल यह भी एक फैशन हो गया है कि माया और अद्वैतके विषयमें तात्त्विक रूपसे वाद-विवाद किया जाय, उनकी दार्शनिक सूक्ष्मताओंकी चर्चा की जाय

और इस चर्चा और वाद-विवादको इतना प्रमुख स्थान दे दिया जाय कि ये आध्यात्मिक अनुभूतिका स्थान ग्रहण कर लें। इस फैशनके फंदेमें मत पड़ो और अभी जब तुम साधनाके मार्गमें ही हो तभी सवाल कर-करके आपने-आपको निरर्थक उलझनमें मत डालो और अपना समय बरबाद मत करो, क्योंकि तुम्हारे सवालोंका विस्तारपूर्ण और प्रकाशमय उत्तर तुम्हें उस समय आप-से-आप मिल जायगा जब तुममें विज्ञान-लोकके दिव्य-ज्ञान की जागृति होगी। तात्त्विक ज्ञान अपना एक स्थान रखता है, किन्तु यह स्थान आध्यात्मिक अनुभवके एक सेवकका है। यद्यपि कभी-कभी यह आध्यात्मिक अनुभवके लिये पथ-प्रदर्शकका काम करता है, किन्तु अधिकांश में यह उसीपर निर्भर करता है और उसके दिये हुए दानपर ही जीता है। कोरा तात्त्विक ज्ञान केवल पाण्डित्यमात्र है, एक शुष्क और बांझ वस्तु है और बहुधा सहायता करनेकी अपेक्षा हमारे मार्गमें रुकावट ही डालता है। जब तुमने इस मार्गको स्वीकार किया है तब इसके शास्त्रका अनुसरण करो और अनावश्यक संदेह और सवाल मत करो, मनको उच्चतर ज्ञानके प्रकाशकी ओर नमनशील बनाये रखो, जो कुछ अनुभव होता

जाय उसे मजबूतीसे पकड़ते जाओ, जहाँ तुम्हें अंध-कार दिखायी दे वहां प्रकाशके हो जानेतक प्रतीक्षा करो, जो लोग इस मार्गका अतिक्रमण कर चुके हैं ऐसे साक्षात् पथ-प्रदर्शकोंसे जो कुछ भी सहायता ले सकते हो वह बिना किसी अभिमानके लेते जाओ,सदा धैर्य रखो, झटपट संकीर्ण निर्णय मत कर डालो, किन्तु अधिक पूर्ण अनुभव और पूर्णतर प्रकाशके लिये प्रतीक्षा करो, उस जगद्गुरुपर भरोसा रखो जो तुम्हें तुम्हारे अंदरसे सहायता दे रहा है।

यहाँ मायावाद और अद्वैत-विषयक आधुनिक शिक्षाओंके संबंधमें कुछ कह देना आवश्यक है, क्योंकि आजकल इनका बहुत अधिक दौरदौरा है और ये युरोपीय तर्कवाद और अज्ञेयवादके विचारोंसे, जिनके साथ अपना नाम जुड़ा हुआ देखकर शंकरको भी आश्चर्य हुआ होता, ओतप्रोत होनेके कारण बहुतोंको भ्रममें डाल देती हैं। इस बातको याद रखो कि किसी एकपक्षीय दर्शनशास्त्रमें सत्यका सदा आंशिक वर्णन ही होता है। यह जगत्, जैसा कि ईश्वरने इसको रचा है किसी कठोर न्यायसूत्रसे बंधा हुआ नहीं है बल्कि यह संगीतकी तानकी तरह है, अनेक विविधताओंका अनंत सामंजस्यरूप है और भगवान्-

का अपना अस्तित्व स्वतंत्र और निरपेक्ष होनेके कारण उसकी व्याख्या तर्कशास्त्रके बंधे हुए नियमोंमें नहीं की जा सकती। जिस प्रकार सर्वोत्तम धर्म वही है जो समस्त धर्मोंके सत्यको स्वीकार करता है, ठीक उसी प्रकार सर्वोत्तम दर्शनशास्त्र वही है जो समस्त दर्शन-शास्त्रोंके सत्यको स्वीकार करता है और हरेकको उनका योग्य स्थान प्रदान करता है। माया एक उपलब्धि है, एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जिसपर शंकराचार्यने इसलिये बहुत अधिक जोर दिया क्योंकि उनकी अनुभूतिमें यह अत्यंत स्पष्ट थी। जहाँतक तुम्हारा अपना संबंध है तुम इस शब्दको गौण प्रयोगके लिये छोड़ दो, बल्कि 'लीला' शब्दकी भावनापर अधिक ध्यान दो, यह शब्द मायाकी अपेक्षा अधिक गभीर और भावपूर्ण है। लीलामें मायाका भाव तो है ही, किन्तु उसके परेके भाव भी आ जाते हैं, इसके अतिरिक्त इस शब्दमें समस्त वस्तुओंके निरर्थक होने, उनको तुच्छ समझनेके उस भावका साहचर्य भी नहीं है जो भाव तुम्हारे लिये बिलकुल बेकार है—तुम्हारे लिये जिसने श्रीकृष्णके साथ रहना और मथुरा और वृंदावनमें उनके साथ लीला करना पसंद किया है।

ईश्वर एक है पर वह अपनी एकतासे बंधा हुआ नहीं है। यहां, इस अभिव्यक्त जगत्में, ईश्वरको हम इस प्रकारका एक देखते हैं जो सदा बहुरूपमें अभिव्यक्त हो रहा है। इसलिये नहीं कि ऐसा किये बिना वह रह ही नहीं सकता, किन्तु इसलिये कि यह उसका संकल्प है, और अभिव्यक्तिसे परे तो वह अनिर्देश्य है, जिसको न हम एक ही कह सकते हैं न बहु। यही भाव है जिसकी उपनिषद् और अन्यान्य धर्मग्रंथ बराबर शिक्षा देते चले आ रहे हैं; वह एक है और उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, एकमेवाद्वितीयम्, पर साथ ही और फलतः "यह मनुष्य, वह स्त्री, वह नील पंखवाली चिड़िया, यह लाल-लाल पंखवाली भी," सब कुछ वही है। वह सांत है वह अनंत है, जीव भी वही है। श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं कि "मैं अश्वत्थ वृक्ष हूँ, मैं मृत्यु हूँ, मैं अग्नि वैश्वानर हूँ, वह अग्नि हूँ जो अन्नको पचाती है, मैं व्यास हूँ, मैं वासुदेव हूँ, मैं अर्जुन हूँ।" सब कुछ उसकी अनंत सत्तामें उसके चैतन्यकी लीला है, उसीकी अभिव्यक्ति है, अतः सभी कुछ सत्य है। तो मायाका अर्थ इससे अधिक और कुछ नहीं कि ब्रह्म जिन परिस्थितियोंद्वारा

अपने-आपको अभिव्यक्त करता है, उनसे वह सर्वथा मुक्त है। उसके बारेमें जो कुछ भी हम सोचते या देखते हैं, उनसे वह किसी तरह भी बंधा हुआ नहीं है। जिस मायासे हमको बचना है वह तो यह है, अज्ञानकी माया जो वस्तुओंके पृथक् अस्तित्वको मानती है और उन्हें ईश्वर रूपसे, चैतन्य रूपसे स्वीकार नहीं करती, जो अपरिमेयको वस्तुतः परिमित और मुक्तको बद्ध मानती है। क्या तुमको श्रीकृष्ण और गोपियोंकी वह कथा याद है जिसमें यह वर्णन किया गया है कि, किस प्रकार नारदने प्रत्येक घरमें जहां-जहां भी वे गये श्रीकृष्णको भिन्न-भिन्न प्रकारसे लीला करते हुए पाया, वे ही, वे एक ही श्रीकृष्ण प्रत्येक गोपीके यहां भिन्न-भिन्न शरीरसे विद्यमान थे। इस कथाका, तुम्हारे परिचित भक्तिभाव पूर्ण अर्थके अतिरिक्त और भी एक अर्थ है और वह यह कि यह उनकी विश्वलीलाका एक सुंदर चित्र है। प्रत्येक व्यक्ति वे ही हैं (सर्व), प्रत्येक पुरुष उनकी बाहरसे दिखायी देनेवाली भिन्न-भिन्न प्रकृति और क्रियाके होते हुए भी, वे ही हैं। और साथ-ही-साथ वे पुरुषोत्तम हैं जो राधा अर्थात् पराप्रकृतिके साथ रहते हैं और जब उनकी इच्छा होती है तब जीवोंको अपनेमें समेट लेते

हैं और फिर जब उनकी इच्छा होती है तब उन्हें पुनः बाहर प्रकट कर देते हैं। एक दृष्टिकोणसे वे उनके साथ एक हैं, दूसरे दृष्टिकोणसे एक होते हुए भी भिन्न हैं, और एक और ही दृष्टिकोणसे वे उससे सदा भिन्न हैं क्योंकि वे सदा अस्तित्व रखते हैं और जब उनकी जैसी इच्छा होती है तदनुसार लीन या प्रकट हो जाते हैं। इन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणोंके संबंधमें वादविवाद करनेसे कोई लाभ नहीं। तबतक धैर्य्य रखो जब-तक कि तुम ईश्वरको देख न लो और अपने-आपको तथा उसको जान न लो, और यह हो जानेके बाद वादविवाद और तर्क-वितर्ककी आवश्यकता आप-से-आप जाती रहेगी।

जो लक्ष्य हमारे लिये निर्धारित किया गया है वह इन चीजोंके बारेमें अटकल लगाना नहीं है, बल्कि वह है इन्हें अनुभव करना। जिस बातके लिये हमारी पुकार हुई है वह यह है कि हम ईश्वरके साधर्म्यमें उत्तरोत्तर बढ़ते रहें, और उसीमें तथा उसके साथ रहने लगें और उसकी शक्ति और आनंद-प्रवाहके मार्ग और उसके कर्मके यंत्र बन जायं। जो कुछ भी अशुभ है उससे शुद्ध होकर, उसके दिव्य संस्पर्शके द्वारा अंतरात्मामें रूपांतरित होकर हमें इस जगत्में दिव्य

विद्युतके एक डाइनमोंकी तरह काम करना है और इस विद्युद्धाराको मनुष्यमात्रके अंदर सनसनाहट और जगमगाहटके साथ संचारित कर देना है, जिससे कि हममेंसे एक भी जहाँ कहीं खड़ा हो वहां उसके आस-पासके सैकड़ों मनुष्य भगवान्के प्रकाश और शक्तिसे भरपूर हो जायं, वे भगवान्मय और आनंदमय हो जायं। धर्म-मंदिर, धर्मसंघ, ब्रह्मज्ञान-शास्त्र और दर्शनशास्त्र मनुष्य जातिकी रक्षा करनेमें इसलिये विफल हुए हैं कि, ये बौद्धिक विश्वासों, सिद्धांतों, कर्मकांडों और व्यवस्थाओंमें ही, अपने आचार शुद्धि और दर्शनके भावोंके साथ,—मानो ये मनुष्य जातिकी रक्षा कर सकते हों,—लगे रहे हैं, और जो बात अत्यंत आवश्यक है अर्थात् आत्मबल और आत्मशुद्धि उसकी इन्होंने अवहेलना की है। हमें इस अत्यंत आवश्यक बातकी ओर लौट जाना चाहिये। ईसाकी मनुष्यमात्रको पवित्र और पूर्ण करनेकी शिक्षाको, महम्मदकी ईश्वरको आत्मसमर्पण करने, उसकी सेवा करने और पूर्ण रूपसे उसके अधीन होनेकी शिक्षाको, चैतन्यकी मनुष्यमें ईश्वरके शुद्ध प्रेम और आनंदकी शिक्षाको, रामकृष्णकी समस्त धर्मोंकी एकता और मनुष्यमें ईश्वरके दिव्यत्व-की शिक्षाको फिरसे अपनाना चाहिये और इन समस्त